International Journal of Advanced Educational Research
ISSN: 2455-6157; Impact Factor: RJIF 5.12
www.educationjournal.org
Volume 2; Issue 3; May 2017; Page No. 179-183

भारत की प्राचीन शिक्षाव्यवस्था (संस्कृतवाङ्मय के आलोक में)

सर्वज्ञभूषण
प्रवक्ता संस्कृत, रा. इ. का बरगढ़ चित्रकूट, उत्तर प्रदेश, भारत।

प्रस्तावना

किसी भी देश में वहाँ की शिक्षा–व्यवस्था उसकी राष्ट्रिय चेतना संस्कृति एवं परम्पराओं की सर्वोच्च अभिव्यक्ति होती है जिससे उस राष्ट्र की आत्मा को समझा जा सकता है। प्राचीन भारतीय संस्कृति की आधारशिला शिक्षा ही है। जिसका सुव्यवस्थित, सुनियोजित एवं ज्ञानपरक स्वरूप मनुष्य के इहलोक एवं परलोक के जीवन को सफल बनाता है। प्राचीन शिक्षा विशारदों के अनुसार ज्ञान से ही मुक्ति मिलती है –'सा विद्या या विमुक्तये।'[1] विद्या ही मनुष्य के समस्त उद्देश्यों को पूर्ण करने में है, यह माता के समान संरक्षण प्रदान करती है तथा पिता के समान सत्पथ दिखाने वाली है कान्ता के समान सुखद एवं मन को आनन्द प्रदान करने वाली है, दुर्गुणों का नाश तथा मन को पवित्र करने वाली, वैभव एवं कीर्ति प्रदान करने वाली है। माता–पिता के समान हित चाहने एवं रक्षा करने वाली विद्या के विषय में भोजप्रबन्ध में वर्णित है–

'मातेव रक्षति पितेव हिते नियुङ्कते, कान्तेव चाभिरमयत्यपनीय खेदम्।
लक्ष्मीं तनोति वितनोति च दिक्षु कीर्तिं किं किं न साधयति कल्पलतेव विद्या ।।

विद्या कई अर्थो में प्रयुक्त है –ज्ञान, शिक्षा, अवगम, विज्ञान आदि। विद्या शब्द विद धातु से क्यप् + टाप् प्रत्यय लगकर ज्ञान अर्थ में निष्पन्न हुआ है । नित्य अभ्यास के द्वारा विद्या का अर्जन किया जा सकता है ।

विद्यामभ्यसनेनैव प्रसादयितुमर्हसि। '

भर्तृहरि ने कहा है –विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनम्[2]

शतपथ ब्राह्मण में वर्णित है कि प्रवचन और स्वाध्याय के पथ पर चलकर मनुष्य अपने मन को एकाग्र कर सकता है। फलस्वरूप चिन्तनीय शक्ति का विकास होता है और धन–धान्य में सम्पन्नता आती है । विद्या सुख प्रदान करती है। मनुष्य स्वयं ही अपना स्वामी बन जाता है तथा इन्द्रियों को सफलता पूर्वक संयमित कर लेता है । विद्या ऐसा धन है जिसे न तो राजा हरण कर सकता है और न चोर चुरा सकता है न भाई बाँट सकता है, और यह विद्या ऐसा धन है जो व्यय करने से बढ़ता है–

न चौरहार्यं न च राजहार्यं न भ्रातृभाज्यं न च भारकारि।
व्यये कृते वर्धते एव नित्यं विद्याधनं सर्वधनप्रधानम् ।।

बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि जिस मनुष्य के पास ज्ञान का प्रकाश नहीं है वह नेत्रान्ध की भाँति होकर नरक में गिरता है

ज्ञानं तृतीयं मनुजस्य नेत्रं समस्ततत्वार्थविलोकिदक्षम् ।
तेजोऽनपेक्षं विगतान्तरायं प्रवृत्तिमत्सर्वजगत्त्रयेपि ।।[3]

विद्या को अधिग्रहीत कर लेना ही 'ज्ञान'' कहा जाता है । भारतीय विद्या–विशारदों ने देवत्व को ज्ञान के अधीन स्वीकार किया है जैसा कि शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है –

'विद्वांसो हि देवा इति '(शतपथ ब्रा0 3.4.3.10)

बृहदारण्यकोपनिषद् में भी वर्णन है –अविद्वांसो नरके पतन्तीति भयकारणमेवाज्ञानं मतम् ।[4]

विद्या की महनीय परम्परा एवं उसके महत्त्व का वर्णन महाभारत के आदि पर्व में भी प्राप्त होता है –

ये विद्यया तपया जन्मना वा वृद्धः स पूज्यो भवति द्विजानाम् ।[5]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि प्राचीनकाल में अविद्या का निवारण ही विद्या का प्रयोजन था प्राचीन शिक्षा को और अधिक स्पष्ट व्याख्यायित करने के लिए हमें निम्नलिखित बिन्दुओं पर अध्ययन करना होगा

शिक्षा की समाज में उपयोगिता –

समाज के लिए शिक्षा की भूमिका महत्त्वपूर्ण है क्योंकि शिक्षा के द्वारा ही समाज की दिशा एवं दशा निर्धारित होता है । शिक्षा समाज को विकास के मार्ग पर ले जाने का साधन है, विद्या हमारे ध्येय तक पहुँचने का मार्गदर्शन भी करती है – नास्ति विद्या समं चक्षुः (महाभारत, 12.339.6)

शिक्षा शिक्षार्थियों के बहुआयामी उत्थान के लिए महत्त्वपूर्ण है। प्राचीन भारतीयशिक्षाव्यवस्था में ब्रह्मचर्य आश्रम द्वारा कठिन संयमित एवं अनुशासित जीवन के साथ शिक्षार्थियों में सद्गुणों का संचार किया जाता था। यह शिक्षा–व्यवस्था शिक्षार्थियों को परोपकारिता, सहिष्णुता, उदारता का पाठ पढ़ाती थी। तथा शिक्षार्थियों को कर्त्तव्यनिष्ठ बनाती थी ।

प्राचीनशिक्षा से आशय –

प्राचीन भारत में शिक्षा का आशय अपने को सभ्य, सुसंस्कृत तथा उन्नतशील बनाने से था। 'शिक्षा' शब्द का प्रयोग उस समय व्यापक एवं संकुचित दोनों रूपों में होता था व्यापक रूप से शिक्षा जीवन पर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया थी। प्राचीन काल की शिक्षा का सम्बन्ध सम्पूर्ण जीवन से था। सर्वप्रथम 'शिक्षा' शब्द का प्रयोग उपनिषदों में मिलता है –

शिक्षेद्दमं दानं दयामिति ।(बृह0उप0, 5.2.3) शिक्षा व्याख्यास्यामः ।(तै0उप0 1.2.1)

उपनिषदों में जिस ज्ञान के द्वारा ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति सम्भव थी और ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म हो जाता था उसी ज्ञान को पूर्ण माना जाता था –स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।[6]

अतः यह कहा जा सकता है कि प्राचीनकाल से ही शिक्षा का आशय जीवन पर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया से था ।

शिक्षा का आशय ज्ञान प्रकाशपुञ्ज से था। समस्त आनन्ददायी सद्गुणों का पूर्ण विकास करना प्राचीन भारतीय शिक्षा के मूल में था। इससे यश, धन, मान–सम्मान आदि सभी पहलुओं का समन्वित विकास सम्भव था ।

शिक्षा के प्रमुख दो लक्ष्य थे – मनोवैज्ञानिक एवं समाजशास्त्रीय इन्हें क्रमशः इन नामों से भी जानते हैं – व्यक्तिगत एवं सामाजिक ।

व्यक्तिगत लक्ष्य तो मनुष्य का आत्मोन्नति (आत्मलाभ) अर्थात् परमधाम मोक्ष की प्राप्ति था तथा सामाजिक लक्ष्य मनुष्य को एक वैधानिक सामाजिक व्यक्ति बनाने का था । मूलरूप से यही यथार्थता है और यही वैदिक शिक्षा की सार्थकता भी है। प्राचीन भारतीयशिक्षा में उपर्युक्त द्विविध लक्ष्यों की यथार्थता सामान्य रूप से देखी जा सकती है । सामाजिक दृष्टिकोण में अच्छा मनुष्य वह माना जाता था जो अपने राष्ट्र एवं समाज के प्रति समर्पित हो तथा सदाचार की नैतिकता से युक्त होकर स्वयं अपना जीवनयापन कर सके आत्मिक लक्ष्य की प्राप्ति को तो परम पुरुषार्थ बताया गया है, और धर्म,अर्थ, काम त्रिवर्गों के सेवन का उपदेश इसी दृष्टिकोण से किया गया है –

अधर्मार्थकामाः सममेव सेव्याः यो ह्येकमन्तः स नरो जघन्यः ।
द्वयोस्तु दाक्ष्यं प्रवदन्ति मध्यं स उत्तमो योऽभिरतस्त्रिवर्गे।।[7]

अतः यह स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय शिक्षाविदों ने शिक्षा की यथार्थता को मनुष्य के सर्वांगीण विकास का साधन माना है।
प्राचीन भारतीय शिक्षाविद् शिक्षा को कभी जीविका का साधनमात्र नहीं मानते थे । इसप्रकार के विचार को रखने वाले की सदैव निन्दा होती थी जो इसे मात्र जीवन यापन का साधन मानते थे –

'यस्यागमः केवल जीविकायै तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति।[8]

प्राचीन शिक्षा के आदर्श एवं प्रमुख उद्देश्य –

प्राचीन शिक्षा का अन्तिम लक्ष्य संसार के प्रलोभनों से दूर होकर जीवन के मूल सत्य का अन्वेषण करना था, जिससे मनुष्य मोक्ष के मार्ग पर अग्रसर होता था, विद्यार्थियों से यह अपेक्षा रहती थी कि वह सदैव गुरुजनों का आदर, सम्मान एवं सत्कार करें, सत्य के आचरण का पालन करें, धर्मात्माओं के चरित्र का अनुकरण करे, तैत्तिरीय उपनिषद् मे गुरु द्वारा उपदेश दिया गया है कि – हे शिष्य ! तुम सदा सत्य बोलो, धर्म का आचरण करो स्वाध्याय में आलस्य मत करो तथा प्रवचन में भी प्रमाद मत करो । सन्तानोत्पत्ति का ध्यान रखो, सत्य धर्म उत्तम स्वास्थ्य एवं ऐश्वर्य प्रदान करने वाले कार्यों में प्रमाद न करो। मेरे जो उचित आचरण हैं उनका तुम अनुकरण करो । धर्म सम्बन्धी कार्यों में यदि संशय हो तो उसीप्रकार का आचरण करना जैसे वेदों के ज्ञाता एवं विचारशील धर्मात्मा ब्राह्मण आचरण करते हों–
सत्यं वद, धर्मं चर, स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्[9]
प्राचीन भारतीय शिक्षा प्रत्येक व्यक्ति के कर्त्तव्यों पर बल देती है। समाज के प्रति कार्यक्षमता विकसित करने को बढ़ावा देती है इससे शिक्षा को पर्याप्त प्रोत्साहन मिलता है। बौद्ध शिक्षा का आदर्श तो भिक्षुओं का बौद्विक विकास करके उनमें विनय, शील, अनुशासन की भावना जागृत करके उनका चारित्रिक विकास करना था, जो बौद्धों का प्रमुख सिद्धान्त था। इसीप्रकार जैन शिक्षा का आदर्श जैनियों को नैतिकता से युक्त कर उनमें शाश्वत मूल्यों का विकास करना था। अब यदि उद्देश्य की बात करें तो शिक्षा से न केवल शिक्षार्थी का बौद्धिक विकास बल्कि शिक्षा द्वारा उसके सम्यक् चरित्र निर्माण, तथा कर्तव्य की भावना को जागृत करना था। व्यक्तित्व का सर्वाङ्गीण विकास, प्राचीन साहित्य एवं संस्कृति का संरक्षण आदि प्रयोजनों की पूर्ति के लिए शिक्षा की आवश्यकता थी । प्राचीन भारत में शिक्षा का प्रसार इतना अधिक था कि कोई ऐसा नागरिक नहीं था जो अनेक शास्त्रों का अध्ययन न किया हो जैसा कि वाल्मीकिरामायण में वर्णित है –

स्वकर्मनिरता नित्यं ब्राह्मणा विजितेन्द्रियाः ।
दानाध्ययनशीलाश्च संयताश्च प्रतिग्रहे।।
नास्तिको नानृती वापि न कश्चिदबहुश्रुतः ।
नासूयको न चाशक्तो ना विद्वान् विद्यते क्वचित् ।।
नाषडङ्गविदत्रास्ति नाव्रतो ना सहस्रदः ।
न दीनः क्षिप्तचितो वा व्यथितो वापि कश्चन ।।[10]

शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को केवल साक्षर नहीं अपितु सुसंस्कृत बनाना था ''शीलवृत्तफलं श्रुतम्। '' उस समय की शिक्षा प्रणाली में गुरु का महत्वपूर्ण स्थान था, गुरु का सम्मान करना परम कर्त्तव्य था माता–पिता तो जन्म देते हैं किन्तु शिक्षा देने के कारण गुरु भी पिता है –

ज्येष्ठो भ्राता पिता वापि यश्च विद्यां प्रयच्छति ।
त्रयस्ते पितरो ज्ञेया धर्मे च पथि वर्तिनः ।।[11]

इससे ज्ञात होता है कि भारत की प्राचीन शिक्षाव्यवस्था का उद्देश्य सदाचारवान् नागरिक तैयार करना था। विद्या से न केवल बौद्धिक विकास होता था बल्कि उसमें यह समर्थता आ जाती थी कि जिससे वह उचित अनुचित का निर्णय ले सके। भारत में प्राचीनकाल से ही धर्म की महत्ता रही है। पुरोहित का कार्य करने वाले ही आचार्य होते थे। ब्रह्मचारियों के लिए आवश्यक था कि वे गायत्री मन्त्र को आत्मसात् करें, सन्ध्या पूजन करें व्रतों का पालन करें तथा धार्मिक उत्सवों को प्रत्येक मास गुरुकुल में सम्पन्न कराया जाता था । शिक्षा का प्रारम्भ गायत्री मन्त्र से होता था। शिक्षा के उपासक यह प्रार्थना करते थे कि परमात्मा उनकी बुद्धि को सन्मार्ग की ओर प्रवृत्त करे । 'असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गतय।'
गुरुकुलों में यज्ञ इत्यादि धार्मिक कार्य नित्य सम्पन्न होते थे। शिष्यों को भी यज्ञीय परम्परा में प्रवीण बनाया जाता था। देवताओं और पितरों के कार्य में प्रमाद न करने का उपदेश इस बात का प्रमाण है कि जीवन में जिन देवों से ज्ञानपुञ्ज प्राप्त हो उन्हें किसी अवसर पर स्मृति से दूर न किया जाय ।

''देवपितृकार्याभ्याम् न प्रमदितव्यम्। ''

गुरुजन अपने शिष्यों को यज्ञादि विभिन्न धार्मिक समारोहों में ले जाते थे। याज्ञवल्क्य ऋषि अपने शिष्यों को राजा जनक द्वारा आयोजित यज्ञीय कार्यक्रम में लेकर गये थे। राजभवन के इन अवसरों पर धर्म के अनेक प्रवचन आदि सुनकर शिष्य धार्मिक वृत्तियों मे प्रवीण हो जाता था।
'' याज्ञवल्क्यः स्वयमे ब्रह्मचारिणमुवाचैताः सीभ्योदजसामश्रवाः। ''[12]
इसप्रकार शिक्षा का एक उद्देश्य धार्मिक क्रिया–कलापों के उत्कर्ष हेतु भी था।

शिक्षार्थियों का चारित्रिक विकास –प्राचीन भारत की शिक्षा व्यवस्था में शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य आदर्श चारित्रक विकास तथा शिक्षार्थियों का वैचारिक विकास करना था। प्राचीन मान्यता थी कि यदि वेदों का अध्येता चरित्रवान् नही है तो वह समाज में आदर पाने का अधिकारी नहीं होता था जबकि केवल गायत्री मन्त्र जानकर यदि चरित्र की उत्कृष्टता प्राप्त है तो वही पूजनीय सम्माननीय आदरणीय होता था –

सावित्रीमात्रसारोऽपि ..... सर्वाशी सर्वविक्रयी ।।(मनु0 2/118)

धार्मिकता से ओत–प्रोत एवं चरित्रवान् व्यक्ति ही पण्डित माना जाता था। शिक्षा के द्वारा शिक्षार्थियों के तामसिक प्रवृत्तियों को रोका जाता था चरित्र का उत्थान करना प्राचीन शिक्षा का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य था।
शिक्षार्थियों के व्यक्तित्व का परिमार्जन भारत की प्राचीन शिक्षा का मुख्य उद्देश्य शिक्षार्थियों के व्यक्तित्त्व का सर्वाङ्गीण परिमार्जन एवं विकास करना था। शिक्षार्थियों द्वारा विभिन्न प्रकार के नियमों,

अनुदेशों का पालन करते–करते व्यक्ति, छात्र जीवन से ही व्यवस्थित दिनचर्या जीने लगता था और किस कार्य को करना है, किसे नहीं करना, भली–भाँति परिचित हो जाता था। किसी भी प्रकार का शारीरिक दण्ड नहीं दिया जाता था। शिक्षार्थियों की आन्तरिक शुद्धि हेतु आरम्भ से ही ब्रह्मचर्य का पालन कराया जाता था, जो उनके व्यक्तित्त्व के विकास में सहायक होता था प्राचीन काल से ही व्यक्तित्त्व को निखारने की प्रक्रिया शिक्षा में चलती आई है विद्यार्थियों में परोपकार की भावना जागृत की जाती थी –

परोपकरणं येषां जागर्ति हृदये सताम् । नश्यन्ति विपदस्तेषां सम्पदः स्युः पदे पदे ।।
तीर्थस्नानैर्न सा शुद्धिर्बहुदानैर्न तत् फलम् । तपोभिरुग्रैस्तन्नाप्यमुपकृत्या यदाप्यते ।।[13]

अतः यह कहा जा सकता है कि व्यक्तित्त्व का परिमार्जन भी प्राचीन शिक्षा का एक ध्येय था ।

प्राचीन शिक्षाव्यवस्था –

प्राचीनकाल में भारतीय शिक्षा व्यवस्था में बालक की विधिवत् शिक्षा का आरम्भ उपनयन संस्कार के द्वारा होता था। परन्तु जब बालक का मस्तिष्क शिक्षा ग्रहण करने के योग्य हो जाता था, तब शिक्षा का आरम्भ विद्याारम्भ संस्कार के साथ प्रारम्भ होता था, यह सांस्कृतिक संस्कार था। इसका प्रादुर्भाव सभ्यता के अत्यन्त उत्कर्ष की अवस्था में हुआ था, तब तक वर्णमाला का विकास हो चुका रहा होगा और उसका लिखने में प्रयोग होने लगा था क्रम के अनुसार विद्यारम्भ संस्कार उपनयन के पूर्व आता था।

उपनयन अर्थात् समीप जाना। इस संस्कार के द्वारा बालक गुरु के समीप जाता था। तीनों वर्णों के प्रवेश के नियम अलग अलग थे। ब्राह्मण बालक का उपनयन संस्कार –गर्भ से 8वें वर्ष तथा क्षत्रिय बालक का उपनयन–गर्भ से 11वें वर्ष तथा वैश्य बालक का उपनयन की सामान्य आयु सीमा –गर्भ से 12वें वर्ष थी। प्राचीन भारतीय शिक्षा व्यवस्था में उपनयन की अधिकतम आयु सीमा का निर्धारण किया गया था इस सीमा को पार करने पर सावित्री ग्रहण का अतिक्रान्त माना जाता था –

आ षोडशाद् ब्राह्मणस्य सावित्री नाऽति वर्तते ।
आ द्वाविंशात् क्षत्रबन्धोराचतुर्विंशतेरविशः ।[14]

अर्थात् ब्राह्मण की सावित्री 16 वर्ष बाद नष्ट हो जाती थी, क्षत्रिय की सावित्री ग्रहण का अतिक्रान्त बाइसवें वर्ष तक होता था तथा वैश्यों के सावित्री ग्रहण का अतिक्रान्त 24वें वर्ष के बाद माना जाता था। जो ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य इत्यादि वर्णों के अतिक्रान्त की आयु सीमा तक सावित्री ग्रहण नहीं कर लेते थे उन्हें पथभ्रष्ट बताया गया है –

अत उर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः ।
सावित्री पतिता व्रात्या भवन्त्यार्य विगर्हिताः ।। [15]

अर्थात् अपने अपने समयानुसार संस्कृत न होने वाले तीनों वर्णों के बालक कालावधि से ऊपर सावित्री से भ्रष्ट और शिष्टजनों द्वारा निन्दित तथा व्रात्य हो जाते है ।

प्राचीन शिक्षा का स्थान –आधुनिक युग की व्यवस्था की तरह प्राचीनकाल में विद्यालयीय भवनों की सुविधा नहीं थी परन्तु तब शोरगुल वातावरण से दूर शिक्षा का स्थान गुरुकुल या आश्रम था जहाँ निवास करके विद्यार्थी गुरुकुल परम्परा में अध्ययन करते थे–

''ततोऽनन्तरसंस्कार संस्कृतो गुरुवेश्मनि कुर्याद्विद्यापरिग्रहम्।''[16]

विद्यालय गुरुकुल में होता था। गुरु या आचार्य के निवास में ही आचार्य के पुत्रों के साथ रहते हुए सभी विद्यार्थी समभाव पूर्वक शिक्षा ग्रहण करते थे। इन गुरुगृहों को उपनिषदों में 'आचार्यकुल' भी कहा गया है–द्वितीयो ब्रह्मयो ब्रह्मचर्याचार्यकुलवासी ।(छा0उप0 2.23.1)

गुरुकुल में रहने वाले विद्यार्थियों को 'अन्तेवासी' कहा जाता था। आश्रम दो प्रकार के होते थे एक तो गृहस्थ गुरु, जो अपने निवास पर ही शिक्षा देते थे। दूसरे जो कोलाहल से दूर वन आदि एकान्त आश्रम में रहते थे।

विष्णुपुराण (3.10.12) के अनुसार कृष्ण एवं बलराम ने सान्दीपन मुनि के आश्रम में शिक्षा ग्रहण की थी। महर्षि कण्व, व्यास, वसिष्ठ, भरद्वाज, परशुराम इत्यादि के आश्रमों का वर्णन महाभारत में मिलता है। महाभारत के आदिपर्व में महर्षि कण्व के आश्रम का वर्णन मिलता है जो मालिनी नदी के तट पर था।

मनः प्रह्लादजननं दृष्टिकान्तमतीव च ।
शीतमारुतसंयुक्तं जगामान्यन्महद्वनम्।
आश्रमप्रवरं रम्यं ददर्श च मनोरमम् ।।[17]

इन सभी गुरुकुलों में वैदिक–शिक्षा तत्कालीन पद्धति से दी जाती थी।

शिक्षार्थी की योग्यता – प्राचीनकाल में आचार्यगण योग्य शिक्षार्थियों को ही शिक्षा देते थे क्योंकि उन्हीं शिष्यों के द्वारा ही गुरुओं का भी यश संसार में फैलता था। गुरु के आश्रम में रह कर शिक्षा ग्रहण करने वाले शिक्षार्थी 'सतीर्थ्य' कहे जाते थे। ऐसा अष्टाध्यायी के सूत्र से पता चलता है–'समानतीर्थेवासी । ' (4.4.107 अष्टा0) प्राचीनकाल में आचार्य विद्यार्थियों को शिक्षा देने से पूर्व उसकी पात्रता का परीक्षण करते थे । विद्या के योग्य अधिकारी का लक्षण वेदान्तसार में दिया गया है –

प्रशान्तचित्ताय जितेन्द्रियाय च प्रहीणदोषाय यथोक्तकारिणे।
गुणान्तितायानुगताय सर्वदा प्रदेथमेतसकलं मुमुक्षवे ।।

तथा –

''अधिकारी तु विधिवदधीतवेदवेदाङ्गत्वेनापाततोऽधिगताखिलवेदार्थोऽस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा .....नितान्तनिर्मलस्वान्तः साधनचतुष्टयसम्पन्नप्रमाता ।''(वेदान्तसार 5.8)

मनुस्मृति में भी अधिकारी को ही शिक्षा प्रदान करने को कहा गया है –

नाऽपृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात् न चाऽन्यायेन पृच्छतः ।
जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोकमाचरेत् ।।(मनु0 2.110)

महाभारत में कहा भी गया है–

सुखार्थिनः कुतो विद्या विद्यार्थिनः कुतः सुखम् ।
सुखार्थी वा त्यजेत् विद्या विद्यार्थी वा त्यजेत् सुखम् ।।

विद्यार्थियों के लिए विनम्रता तथा आचार्य की सेवा अत्यन्त आवश्यक थी ।

शिक्षाप्रदाता –

प्राचीन शिक्षण–व्यवस्था में सामान्यरूप से शिक्षा देने वाले गुरु को

आचार्य कहते थे। आचार्य द्वारा आचार –व्यवहार बताया जाता था। सर्वप्रथम आचार्य पिता को ही माना जाता था। ऋषिगण अपने पुत्रों को स्वयं ही शिक्षा देते थे। पुत्र के साथ अनेक ग्रामीण विद्यार्थी भी वहीं आकर शिक्षा ग्रहण करते थे । ऋषिगण जो समस्त विद्यार्थियों को शिक्षा प्रदान करते थे, वे सभी बालकों के पिता के समान पूज्य एवं आादरणीय थे जैसा की अथर्ववेद में वर्णित है –

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः ।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे विभर्ति तं जातं द्रष्टुमभि संयन्ति देवा ।।[18]

छात्रों की बुद्धि का विकास आचार्यों की सहायता से ही होता था छात्रों की उपयोगिता वाले विषयों को आचार्य द्वारा सम्प्रेषित किया जाता था । निरुक्त में वर्णन है–आचार्यः कस्मात् ? आचार्य आचारं ग्राहयति। आचिनोति अर्थान्, आचिनोति बुद्धिमिति वा ।।(निरुक्त – 1.4) शिक्षा को प्रदान करने वाले गुरु योग्य एवं सुपात्र होते थे।

गुरु –शिष्य परम्परा –

गुरु–शिष्य का सम्बन्ध प्राचीनकाल से ही अत्यन्त पवित्र एवं पुनीत रहा है। छात्र उत्साह से युक्त प्रखर बुद्धि वाले गुरुओं से ही शिक्षा ग्रहण करते थे। महाभारत का शान्तिपर्व तत्कालीन गुरुशिष्य परम्परा एवं सम्बन्धों पर प्रकाश डालता है–

न विना ज्ञानविज्ञाने मोक्षस्याधिगमो भवेत् । न विना गुरुसम्बन्धज्ञानस्यधिगमः स्मृतः ।।
गुरुः प्लावयिता तस्य ज्ञानं प्लव इहोच्यते । विज्ञाय कृतकृत्यस्तु तीर्णस्तदुभयं त्यजेत् ।।[19]

गुरु–शिष्य का सम्बन्ध सदैव से ही पूज्य–पूजक का सम्बन्ध रहा है। गुरु को ब्रह्मा, विष्णु, महेश की संज्ञा दी जाती रही है–

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः ।
गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः ।।

गुरु–शिष्य को एक साथ रहने तथा साथ–साथ कार्य करने की भावना उनके बीच समभाव को बनाये रखने के लिए थी– सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सहवीर्यं करवावहै। तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषाावहै।।[20]

प्राचीनकाल से ही भारतवर्ष में गुरुकुल की परम्परा रही है । गुरुकुल में शिष्य परिजनों के समान ही होता था गुरु वहाँ का कुलाचार्य या कुलपति होता था ।

'वंशो द्विधा विद्यया जन्मना च । '

शिक्षापाठ्यक्रम एवं शिक्षण शुल्क–प्राचीन भारत में शिक्षा का पाठ्यक्रम वेद एवं धर्म की परिधि के भीतर था, बाद में व्याकरण, शिक्षा, कल्प, निरुक्त इत्यदि वेदाङ्गों एवं वेद के अतिरिक्त अन्य विषयों को शिक्षा के लिए आवश्यक बताया गया–

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।स जीवेन्न शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः।[21]

कुछ समयानन्तर आयुर्वेद, गान्धर्ववेद, धनुर्वेद, शस्त्र–शास्त्र आदि को आवश्यक शिक्षा माना गया और इनका अध्ययन एवं अध्यापन होने लगा । समय के साथ पुराण, नाट्यवेद (नाट्यशास्त्र) मीमांसादर्शन, एवं महाकाव्यों का लेखन होने लगा जो समयानुसार गुरुकुल परम्परा में पाठ्यक्रम के विषय बनते गये –

पुराणन्यायमीमांसा धर्मशास्त्राङ्मिश्रिताः ।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ।[22]

चारों वेद, छहों वेदाङ्ग, पुराण, न्याय, मीमांसा एवं धर्मशास्त्र इन चौदह विद्याओं को पुरुषार्थ सिद्धि हेतु अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना गया है। उत्तरवैदिककाल में लौकिक विषयों का अध्ययन अध्यापन प्रारम्भ हो गया था। अर्थशास्त्र के प्रणेता कौटिल्य ने आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति को अध्ययन का विषय माना है – आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्चेति विद्या ।(अर्थशास्त्र –1.1)

अध्यापनशुल्क –

गुरु–शिष्य का सम्बन्ध पिता –पुत्र की तरह होता था तो शिक्षण शुल्क का कोई भाव ही नहीं बनता था। क्या कोई पिता अपने पुत्र को दी गयी विद्या के बदले शुल्क लेता है, ऐसा सर्वथा अनुचित था। वेतनभोगी अध्यापकों की निन्दा होती थी – भृतकाध्यापको यश्च भृतकाध्यापिकास्तथा।(मनु0 3.156)

इनसे पढ़ना उपपातक माना जाता था। किन्तु आपत्ति के अवसर पर शुल्क लेकर अध्यापन कार्य करना निन्दित नहीं था–

कृषिः शिल्पं भृतिर्विद्या कुसीदं शकटं गिरिः । सेवा नृपं नृपौ भैक्षमापत्तौ जीवनानि तु ।।[23]

समयानुसार आपत्ति के अवसर पर शुल्क लेना अनुचित नहीं माना गया था और मूलरूप से निःशुल्क शिक्षा का प्रावधान वैदिक परम्परा में था।

प्राचीन भारत मे स्त्रीशिक्षा–

वैदिक काल में नारी शिक्षा एवं नारी के प्रति उत्थान की भावना समाज में व्याप्त थी। लोपामुद्रा, विश्ववारा, अपाला, घोषा, काक्षीवती शची, कामायनी, अदिति, इन्द्राणी, आत्रेयी इत्यादि। वैदिक विदुषी स्त्रियों की अपनी महत्ता थी । गार्गी–याज्ञवल्क्य संवाद से पता चलता है कि जनक की सभा में याज्ञवल्क्य जैसे विद्वान् पुरुष को गार्गी ने पराजित कर दिया था। तत्कालीन समाज नारी शिक्षा के प्रति सचेत था। ऋग्वेदकालीन नारियों का उपनयन होता था। ये मन्त्रों की द्रष्टा एवं वैदिक कार्यों में भी सहयोगिनी होती थीं। इनकी शिक्षा भी समावर्तन के बाद समाप्त होती थी। याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी भी विदुषी एवं ब्रह्मवादिनी स्त्री थी–

अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूवतुः मैत्रेयी च कात्यायनी च तयोर्हं मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी बभूव स्त्री प्रज्ञेव तर्हि कात्यायनी ह याज्ञवल्क्योऽन्यद् वृत्तमुपाकरिष्यन् ।(बृह उ0 2.4.3,4.5.1)

रामायण एवं महाभारत में भी स्त्रीशिक्षा के प्रमाण मिलते हैं रामायण में कौशल्या एवं तारा को मन्त्र की जानकर बताया गया है ।

सा क्षौमवसना हृष्टा नित्यं व्रतपरायणा।
अग्निं जुहोति स्म तदा मन्त्रवत् कृतमङ्गला ।[24]

संस्कृतवाङ्मय में स्त्री–शिक्षा के अनेकों प्रमाण प्राप्त होते हैं जो कि भारत में स्त्रीशिक्षा की महत्ता को व्यक्त करते हैं।

शैक्षिक अवकाश –

मनु , बौधायन गौतम के अनुसार प्रायः दैवीय प्रकोप होने पर शैक्षणिक अवकाश होता था अथवा शृगाल, उल्लू, गधा , कुत्ता आदि के बोलने पर अध्ययन कार्य रोक दिया जाता था। मेघ गर्जना, अमावस्या और पूर्णिमा को भी अनध्याय की व्यवस्था बतायी गयी है–

अकालगर्जितादौ च पर्वस्वाशौचकादिषु ।

अनध्यायं बुधः कुर्यादिपरगादिके तथा ।।[25]

प्राचीन शिक्षा अवधि एवं अध्ययन– उपाधि एवं परीक्षण

ब्रह्मचारी गुरुकुल में सामान्य रूप से 12 से 16 वर्षों तक निवास करके अध्ययन करते थे । इसकी अधिकतम सीमा 48 वर्ष तक हो सकती थी। गुरुकुलों में शैक्षणिक सत्र का विधान होता था। आचार्य मनु के अनुसार शुक्लपक्ष में वेदों का तथा कृष्णपक्ष में वेदांगों का अध्ययन करना चाहिए।

माघशुक्लस्य वा प्राप्ते पूर्वार्द्धे प्रथमेऽहनि ।
अत उर्ध्वं तु छन्दांसि शुक्लेषु नियतः पठेत्।
वेदाङ्गानि च सर्वाणि कृष्णपक्षेषु सम्पठेत् ।।[26]

प्राचीनकाल में प्रत्येक वेद के लिए 12 वर्ष का समय निर्धारित था तथा मनु ने 36 वर्षों तक बह्मचर्य की आवश्यकता बतायी है। समावर्तन, संस्कार दीक्षान्त के समारोह की भाँति होता था । यहाँ के बाद बालक गृहस्थ में प्रवेश करता था। गुरुकुल परम्परा में परीक्षा के द्वारा व्यक्ति का मूल्यांकन समय–समय पर होता था यदि एक की परीक्षा हो जाती थी तभी वह दूसरे पाठ्यक्रम में प्रवेश पा सकता था जो ब्रह्मचारी अपनी विद्या पूरी प्राप्त कर लेते थे उन्हें स्नातक कहा जाता था। स्नातक भी अपनी योग्यता के अनुसार तीन प्रकार के बताये गये है – वेदस्नातक , व्रतस्नातक, एवं वेदव्रतस्नातक ।

कुछ लोग बीच में ही शिक्षा का परित्याग कर लौट जाते थे उन्हे नैष्ठिक कहा जाता था। जो शिक्षा–निष्णात हो जाते थे उन्हें आचार्य की उपाधि प्रदान की जाती थी। सदैव पढ़ाई मौखिक ही होती थी और परीक्षाएँ भी मौखिक ही होती थी।

प्राचीन शिक्षा के प्रमुख केन्द्र –

आचार्यों का आवास ही प्राचीन शिक्षा का केन्द्रबिन्दु था। गुरु के घर में रहकर ही विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करते थे । इनके घर सदैव प्रकृति के सुरम्य वातावरण में होते थे। इन स्थानों पर समिधा हेतु पर्याप्त मात्रा में लकडी प्राप्त होती थी। महाकाव्यकाल में गंगा यमुना के संगम प्रयाग में भरद्वाज मुनि का आश्रम था इसके प्राकृतिक वातावरण में मृग विचरण करते थे।महर्षि अगस्त्य का दण्डकारण्य में, व्यास का हिमालय पर्वत पर, तथा महेन्द्र पर्वत पर परशुराम का आश्रम स्थित था। पाणिनि की जन्मभूमि शालातुर मे व्याकरणाचार्यों का क्रेन्द्र बन गया था। यहाँ शोध एवं अध्ययन हेतु लोग आते रहते थे।

ग्यारहवीं शताब्दी में शङ्कराचार्य द्वारा देश के चारों कोनों में मठ स्थापित करके वैदिक शिक्षा की व्यवस्था की गयी थी । जो काञ्चीपुरम्, बद्रीनाथ, द्वारका एवं पुरी के नाम से स्थापित थे । कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण शैक्षिक संस्थानो की चर्चा हम संक्षेप में करते हैं जो उस समय प्राख्यात थे ।

जैसे–

तक्षशिला, काशी, धारा, कन्नौज, कश्मीर , पाटलिपुत्र, काँची इत्यादि सुप्रसिद्ध प्रख्यात संस्थान थे ।

बौद्ध शिक्षा का प्रारम्भ प्रव्रज्या (पब्बजा) से होता था इसके लिए अभिभावक की अनुमति अत्यन्त आवश्यक थी शैक्षिक जीवन की समाप्ति उपसम्पदा से होता था। शिक्षा की सामान्य अवधि 12 वर्ष थी । प्रव्रज्या 8 वर्ष से कम के बालक के लिए नहीं स्वीकार थी। प्रव्रज्या के बाद ही भिक्षु शिक्षा के अधिकारी हो जाते थे। नालन्दा, विक्रमशिला, वल्लभी, ओदन्तपुरी इत्यादि बौद्ध शिक्षा के केन्द्र थे ।

इसप्रकार प्राचीन भारतीय शिक्षाव्यवस्था निःशुल्क एवं आवासीय थी, तथा राजनीतिक हस्तक्षेप से दूर थी। शिक्षाव्यवस्था सफल रूप से लागू थी तथा छात्र के चारित्रिक गुणों का विकास गुरुकुलों में किया जाता था। भारत की शिक्षाव्यवस्था विश्व में ज्ञान के प्रचार–प्रसार के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण थी।

सन्दर्भ–

1. विष्णुपुराण 1.19.41
2. भर्तृहरि, नीतिशतक 2.20
3. सुभाषितरत्नसंग्रह पृ0, 194
4. बृहदारण्यकोपनिषद् , 4.4.11 एवं 1.5.16
5. महाभारत आदिपर्व/84.2
6. मुण्डक उप0 3.2.9
7. महाभारत, शान्तिपर्व 167.40
8. मालविकाग्निमित्र–1.17
9. तै0उ0 1.1.1
10. वा0 रामायण –1.6.13–15
11. वा0 रामायण –4.18.13
12. बृह0 उप0 30.3.12
13. स्कन्दपुराण /काशीखण्ड /4–5
14. मनुस्मृति 2.38
15. मनु0 2.39
16. विष्णु पु0 3.10.12
17. महाभारत आदिपर्व अध्याय 64
18. अथर्व0 11.5.3
19. महाभारत –शान्तिपर्व 326.22.23
20. कठोपनिषद् 6.19
21. मनुस्मृति 2.168
22. याज्ञवल्क्य स्मृति –1.3
23. याज्ञवल्क्य स्मृति–3.42
24. वा0रामायण – 2.20.15
25. विष्णु पुराण–3.12.36
26. मनु0 2.96.98
27. अथर्ववेद संहिता– चौखम्बा विद्याभवन, 2011– वाराणसी
28. ऋग्वेद संहिता– चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी– 2011
29. गौतमधर्मसूत्र– चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी– 2015
30. छान्दोग्योपनिषद् –गीताप्रेस–गोरखपुर– सं0 2070
31. तैत्तिरीयोपनिषद् – गीताप्रेस, गोरखपुर– सं0 2071
32. बृहदारण्यकोपनिषद् –गीताप्रेस, गोरखपुर– सं0 2071
33. बौधायन गृह्यसूत्र– चौखम्भा, प्रकाशन– सं0 2072
34. मनुस्मृति–व्याख्या शिवराजआचार्य कौण्डिन्न्यायन, चौखम्बा विद्याभवन,वाराणसी– 2014
35. शतपथ ब्राह्मण– सम्या0 स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वरती –विजयकुमार गोविन्दराम, हासानन्द दिल्ली–2014
36. श्रममनबममतममिह्न रमबममत्त्मब्म ामह्नमश्रत्त्ममअमहडममतनमअम . मडिमश्रमलममनमामह्न रमत्त्म
37. श्रममनबममतममिह्न रमबममत्त्मब्म ल्ममपम ैामह्न . पममतसममक्रमेउम पममेरज्ञमीमहर
38. श्रममनबममतममिह्न रमबममत्त्मब्म ल्ममपम वमे पममतसममक्रमेउम पममेरज्ञमीमहर
39. उमइउामत्रह्नसम श्रमम'कबमत्त्म ामह्नम लमत्रदवक थ्मसिमदमउम ;ल्ममपम.3द्ध लमनमवेश्रम ळीममव्त्ममत्त्म